

## जैनदर्शनमें नयवाद

इसमें संदेह नहीं कि विश्वके प्राचीनतम सभी दर्शनकारोंमें जैनदर्शनकार विलक्षण प्रतिभाके धनी रहे हैं। यही कारण है कि जैनदर्शनकारोंने अन्य सभी दर्शनकारोंको अटपटे लगनेवाले अनेकान्तवाद, स्याद्वाद<sup>१</sup>, नयवाद और सप्तभंगीवादको अपने अनुभवके आधारपर वस्तुव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये जैनदर्शनमें स्थान दिया है। जैनदर्शनका आलोडन करनेसे यह बात सहज ही जानी जा सकती है कि जबतक उक्त वादोंको स्वीकार नहीं कर लिया जाता तबतक वस्तुव्यवस्था या तो अधूरी रहेगी या फिर गलत होगी।

प्रकृत लेखमें हम नयवादका विवेचन करना चाहते हैं। लेकिन नयोंका आधार जैन आगममें<sup>२</sup> चूँकि प्रमाणको ही बतलाया गया है, अतः यहाँपर सर्वप्रथम प्रमाणका ही संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

### प्रमाण-निर्णय

लौकिक तथा दार्शनिक जगत्में वस्तुतत्त्वको समझनेके लिये प्रमाणको स्थान प्राप्त है। जैनदर्शनमें प्रमाणशब्दका जो व्युत्पत्त्यर्थ किया गया है उससे वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थामें प्रमाणके महत्त्वको सहज ही जाना जा सकता है। यथा—

‘प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् ।’

—परीक्षामुखटीका १-१

अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुतत्त्वका संशय<sup>३</sup>, विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण होकर निर्णय होता है वह प्रमाण है।

चूँकि उल्लिखितरूपमें वस्तुतत्त्वका निर्णय ज्ञानके द्वारा ही संभव है। अतः जैनदर्शनमें मुख्यरूपसे ज्ञानको ही प्रमाण स्वीकार किया गया है। यथा—

‘स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।’

—परीक्षामुख १-१

अर्थात्—अपना और अपनेसे भिन्न पूर्वमें अनिर्णीत पदार्थका निर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण है।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ १-२ में ही आगे बतलाया है—

“हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।”

अर्थात् चूँकि प्रमाण हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ होता है, अतः ज्ञान ही प्रमाण कहलाने योग्य है।

इसका फलितार्थ यह है कि ज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर सकती है, अतः उपर्युक्त कथनके आधारपर जैनदर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है।

### ज्ञान अप्रमाण भी होता है

ऊपर हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें ज्ञानको ही समर्थ बतलाया गया है। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि सभी ज्ञान हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते हैं। अतः

१. स्याद्वादका ही अपर नाम अपेक्षावाद है। इसका उपयोग सीमित दायरेमें अर्वाचीन एवं पाश्चात्य दर्शनकारोंने भी किया है।

२. ‘नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात् ।’ —सर्वार्थसिद्धि १-६।

३. ‘संशय उभयकोटिसंस्पर्शीं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परामर्शः । विपर्ययः पुनरतस्मिस्तदिति विकल्पः । विशेषानवधारणमनध्यवसायः ।’ —प्रमेयरत्नमाला ६-२।

जिन ज्ञानोंमें उक्त सामर्थ्य नहीं पायी जाती है उन ज्ञानोंको अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये । जैनदर्शनमें अप्र-  
प्रमाणका माणाभासनामसे उल्लेख करते हुए उसके जो भेद गिनाये गये हैं उनमें ज्ञानविशेषोंका भी समावेश  
किया गया है । यथा—

‘अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।’ —परीक्षामुख ६-२

अर्थात् जो अपना संवेदन करनेमें असमर्थ हो या जो गृहीत अर्थको ग्रहण करनेवाला हो या जो  
निराकार दर्शनरूप हो और या जो संशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय स्वरूप हो वे सभी अपने-अपने ढंगसे  
प्रमाणाभास हैं ।

ज्ञानके भेद और उनका प्रमाण तथा अप्रमाणरूपमें विभाजन

तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञानके पाँच भेद गिनाये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और  
केवलज्ञान<sup>१</sup> । तथा इन पाँचों ज्ञानोंको प्रमाण<sup>२</sup> कहा गया है और आदिके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान  
इन तीन ज्ञानोंको प्रमाणके साथ-साथ अप्रमाण<sup>३</sup> भी बतलाया गया है । इस प्रकार पाँच प्रमाणरूप और  
तीन अप्रमाणरूप कुल मिलाकर ज्ञानके आठ भेद कर दिये गये हैं<sup>४</sup> ।

ज्ञानोंकी प्रमाणता और अप्रमाणताका कारण

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें मोहकर्मका अभाव होनेपर उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनको  
ज्ञानकी प्रमाणताका कारण बतलाया है<sup>५</sup> और आचार्य पूज्यपादने<sup>६</sup> “मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च” (१-३१)  
सूत्रकी व्याख्या करते हुए ज्ञानकी अप्रमाणताका कारण मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शनको  
बतलाया है । इस तरह ऐसा समझना चाहिये कि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी  
स्थितिमें जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान कहलाता है और मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न मिथ्या-  
दर्शनकी स्थितिमें जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह अप्रमाण ज्ञान कहलाता है ।

इस विषयमें हम इतना और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार उपर्युक्त  
पाँच सामान्य ज्ञानोंमेंसे मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान दोनों मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्द-  
र्शनकी स्थितिमें ही हुआ करते हैं । इतना ही नहीं, मनःपर्ययज्ञान तो सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जीवमें सकल-  
चारित्रकी उत्पत्ति हो जानेपर तथा केवलज्ञान सकलसंयमसे भी आगे यथाख्यातचारित्रकी उत्पत्ति हो जानेपर  
ही हुआ करता है । इसलिये मनःपर्यय और केवल ये दोनों ज्ञान सतत प्रमाणरूप ही रहा करते हैं । परन्तु  
मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जीवमें चूँकि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थिति  
में भी होते हैं व मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न मिथ्यादर्शनकी स्थितिमें भी होते हैं । अतः ये तीनों ज्ञान सम्यग्द-  
र्शनकी स्थितिमें होनेके आधारपर तो प्रमाणरूप व मिथ्यादर्शनकी स्थितिमें होनेके आधारपर अप्रमाणरूप इस  
तरह दोनों प्रकारके हुआ करते हैं । इससे यह बात भी फलित होती है कि ज्ञान सामान्यके ऊपर बतलाये गये

१. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् । -तत्त्वा० १-९ ।

२. वही, १-१० ।

३. वही, १-३१ ।

४. द्रव्यसंग्रह गा० ५ ।

५. “मोहतिमरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।” —पद्य ४७ का पूर्वार्ध ।

६. कुतः पुनरेतेषां विपर्ययः ? मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् ।

पाँच भेद ही सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनकी अपेक्षासे क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होकर ज्ञानकी आठ भेदरूपताको प्राप्त हो जाते हैं ।

जिस ज्ञानमें मोहकी प्रेरणा कार्यकर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी संपूर्तिके लिये हो उसे तो मिथ्यादर्शन (अविवेक) की स्थितिमें होनेवाला अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये और जिस ज्ञानमें मोह की प्रेरणा कार्य न कर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी संपूर्तिके लिये न हो उसे सम्यग्दर्शन (विवेक) की स्थितिमें उत्पन्न हुआ प्रमाण ज्ञान जानना चाहिये ।

यहाँपर अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंकी प्राप्तिमें और अनभिलषित परपदार्थोंके वियोगमें हर्ष करना राग है तथा अनभिलषित परपदार्थोंकी प्राप्तिमें और अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंके वियोगमें विषाद करना द्वेष है एवं परपदार्थोंमें अहंबुद्धि या ममबुद्धि करना मोह है । इसी प्रकार परपदार्थोंमें इष्टबुद्धि या अनिष्टबुद्धि करना मोह है व इस तरह इष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति आकृष्ट होकर उसमें प्रीति करने लग जाना राग है तथा अनिष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति घृणा व ग्लानि-रूप अप्रीति करने लग जाना द्वेष है—ऐसा जानना<sup>१</sup> चाहिये ।

जैनागममें बतलाया है कि ज्ञानके उल्लिखित पाँच भेदोंमेंसे अन्तके अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन भेद तो जीवमें पररूप साधनोंकी सहायताके बिना केवल आत्मनिर्भरताके आधारपर ही उत्पन्न होते हैं<sup>२</sup>, लेकिन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आत्मबलकी आवश्यकता होनेपर भी दोनोंमेंसे मतिज्ञान तो पररूप स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों तथा मन हृदयकी यथावश्यक सहायतासे<sup>३</sup> उत्पन्न होता है व श्रुतज्ञान पररूप मन (मस्तिष्क)की<sup>४</sup> सहायतासे उत्पन्न होता है ।

इतना बतलानेमें हमारा प्रयोजन यह है कि जब मतिज्ञानका उल्लिखित पाँच इन्द्रियों और मनकी सहायतासे व श्रुतज्ञानका मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेका नियम है और चूँकि पाँचों इन्द्रियों व मनका सदोष अथवा निर्दोष होना भी सम्भव है तो इसके आधारपर जैनदर्शनकी यह भी मान्यता है कि जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन सदोष हालतमें हों उस जीवमें उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन सदोष हालतमें हो उस जीवमें उसकी सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनों ही अप्रमाणरूप होते हैं । इसी प्रकार जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन निर्दोष हालतमें हों उस जीवमें उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन निर्दोष हालतमें हो उस जीवमें उसकी सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनों ही प्रमाणरूप होते हैं ।

कानोंमें बहरापन आ जाना, आँखोंपर पीलिया रोगका प्रभाव हो जाना या मोतियाबिन्दु आदिके कारण दृष्टिका कमजोर हो जाना, नाकमें भी सर्दी-जुकामका हो जाना आदि यथायोग्य निमित्तोंसे इन्द्रियाँ सदोष हो जाती हैं व जीवमें क्रोधादिकषाय उत्पन्न होनेपर मन सदोष हो जाया करता है । इसी तरह मद्य आदि मादक पदार्थोंका सेवन आदि कारणोंसे भी मन सदोष हो जाया करता है ।

१. 'यः प्रीतिरूपो रागः.....योऽप्रीतिरूपो द्वेषः.....यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः ।' —समयसारटीका, अमृतचन्द्र, गा० ५०-५५ ।
२. सर्वार्थसिद्धि में 'प्रत्यक्षमन्यत् ।' —१-१२ सूत्रकी व्याख्या ।
३. 'तदिन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तम् ।' —तत्त्वार्थसूत्र १-१४ ।
४. 'श्रुतमतिन्द्रियस्य ।' —वही, २-११ ।

इस तरह उल्लिखित कथनका सार यह है कि सम्यग्दर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होनेका नियम होनेसे मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो सतत प्रमाणरूप ही हुआ करते हैं। अवधिज्ञान यदि सम्यग्दर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ हो तो प्रमाणरूप होता है और यदि मिथ्यादर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ हो तो अप्रमाणरूप होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके सद्भावमें उत्पन्न होनेके कारण क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते हैं तथा निर्दोष और सदोष इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी वे क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते हैं।

वचन भी प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होता है :

जिस प्रकार उल्लिखित प्रकारसे ज्ञान प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है उसी प्रकार वचन भी प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है। वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका आधार यह है कि वह (वचन) प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण<sup>१</sup> होता है। अर्थात् वक्ताके वचनको सुनकर श्रोताको व लेखकके वचनको पढ़कर पाठकको जो पदार्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। यह श्रुतज्ञान यदि प्रमाणरूप होता है तो इसके निमित्तभूत वचनको भी प्रमाणरूप माना जाता है और वह (श्रुतज्ञान) यदि अप्रमाणरूप होता है तो उसके निमित्तभूत वचनको भी अप्रमाणरूप माना जाता है।

वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका एक अन्य आधार उस (वचन) की उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुरुषकी प्रमाणता और अप्रमाणता भी होती है। अर्थात् वचनकी उत्पत्ति वक्ताके बोलनेरूप या लेखकके लिखनेरूप व्यापारसे होती है इसलिये वक्ता या लेखक यदि प्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमशः बोला गया या लिखा गया वचन भी प्रमाणरूप माना जाता है और वक्ता या लेखक यदि अप्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमशः बोला गया या लिखा गया वचन भी अप्रमाणरूप माना जाता है। यही कारण है कि वचनकी प्रमाणताको सिद्ध करनेके लिए स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें वचनके साथ 'आप्तोपज्ञ'<sup>२</sup> विशेषण लगाया है। आप्तका अर्थ प्रामाणिक व्यक्ति होता है—यह बात स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकमें पाये जानेवाले आप्तके लक्षणसे ही प्रकट होती है। यथा—

आप्तोऽनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अर्थात् जिसके अन्दरसे सर्व प्रकारके दोष निकल गये हों, साथ ही जो सर्वज्ञ और आगमका स्वामी हो वही आप्त कहला सकता है। इन बातोंके अभावमें आप्तता सम्भव नहीं है।

स्वामी समन्तभद्र द्वारा बतलाया गया आप्तका उपर्युक्त लक्षण आप्तसामान्यका न होकर आप्त-विशेषका अर्थात् सर्वोत्कृष्ट आप्तका ही लक्षण है। इससे यह बात फलित होती है कि ऐसे पुरुष भी आप्त कहे जाने योग्य हैं जो अल्पज्ञ होकर भी कम-से-कम पूर्वोक्त प्रकारके राग, द्वेष और मोहको नष्ट करके सम्यग्दृष्टि बन गये हों। यही कारण है कि आचार्य अनन्तवीर्यने आप्तका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

“यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः ।” —प्रमेयरत्नमा० ३-९९ ।

१. 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।' —परीक्षामुख ३-९९ सूत्रमें प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आप्तवचनको व 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।'—परीक्षामुख ६-५१ सूत्रमें अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें अनाप्तवचनको कारण माना गया है।

२. आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।

तत्त्वोपदेशकृत्सार्व शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

अर्थात् जो जिस विषयमें अवञ्चक है यानी धोखा-धड़ी नहीं करता है वह उस विषयमें आप्त कहलाता है ।

इस तरह जैनदर्शनमें ऐसी ग्रन्थ-रचनाओंको भी प्रमाण माना जाता है जो विद्वान् महर्षियों द्वारा अल्पज्ञ रहते हुए भी परकल्याणभावनासे निरीहवृत्तिपूर्वक की गयी हैं तथा लोकव्यवहारमें उक्त राग-द्वेष और मोहसे अनाकान्त साधारण अल्पज्ञानीजनोंमें स्वीकृत आप्तता भी अपना कम महत्त्व नहीं रखती है । अर्थात् जनहितकारी उपदेशदाता या ग्रन्थकर्त्ता महर्षिजन व प्रशस्त लोकव्यवहारमें प्रवृत्त साधारण लौकिकजन अल्पज्ञ रहते हुए भी अपने-अपने दायरेमें आप्त अर्थात् प्रामाणिक माने जाते हैं ।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार और प्रमेयरत्नमालामें आप्तके जो लक्षण बतलाये गये हैं उनसे ठीक विपरीत लक्षण अनाप्त पुरुषका जानना चाहिये । इसीलिये आचार्य माणिक्यनन्दिने आगामाभास (अप्रमाणरूप श्रुतज्ञान) का लक्षण बतलाते हुए 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।' ( प० मु० ६-१५ ) में अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुरुषके साथ 'रागद्वेषमोहाक्रान्त' विशेषण लगाया है ।

इस तरह उपर्युक्त लक्षण वाले आप्तपुरुष द्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको प्रमाणरूप और इससे विपरीत उपर्युक्त लक्षणवाले अनाप्तपुरुष द्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको अप्रमाणरूप जानना चाहिए ।

इस कथनका अभिप्राय यह है कि या तो प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होनेके आधारपर कारणमें कार्यधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे या फिर वचनकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत आप्त-पुरुष और अनाप्तपुरुषका कार्य होनेके आधारपर कार्यमें कारणधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे वचनको यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मानना चाहिये ।

जैनागममें वचनको परार्थश्रुत भी कहा गया है

जैनागममें<sup>१</sup> प्रमाणके दो भेद स्वीकार किये गये हैं—एक तो स्वार्थप्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण । साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जितना ज्ञानरूप प्रमाण है वह सब स्वार्थप्रमाण कहलाता है और जितना वचनरूप प्रमाण है वह सब परार्थप्रमाण कहलाता है । इस तरह मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल-रूप जो चार प्रमाण हैं वे अपनी ज्ञानरूपताके कारण स्वार्थप्रमाण ही हैं । लेकिन श्रुतप्रमाण चूंकि ज्ञानात्मक और वचनात्मक दोनों ही प्रकारका होता है, अतः जितना ज्ञानात्मक श्रुतप्रमाण है वह तो स्वार्थप्रमाण और जितना वचनात्मक श्रुत प्रमाण है वह परार्थप्रमाण है ।

ज्ञानको स्वार्थप्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उस ( ज्ञान ) का पदार्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस ( ज्ञान ) के आश्रयभूत 'स्व' अर्थात् ज्ञाताको प्राप्त होता है तथा वचनको परार्थप्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उसका ( वचनका ) पदार्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस ( वचन ) की उत्पत्तिमें निमित्तभूत वक्ता या लेखकसे भिन्न 'पर' अर्थात् श्रोता या पाठकको प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार प्रमाण स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका है उसी प्रकार अप्रमाण भी स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका समझ लेना चाहिये । इनमेंसे स्वार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी ज्ञानरूपताके कारण मिथ्या मतिज्ञान, मिथ्या श्रुतज्ञान और मिथ्या अवधिज्ञान रूपसे तीन प्रकारका तथा परार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी वचनरूपताके कारण अनाप्तवचनके रूपमें एक प्रकारका जानना चाहिये । चूंकि मनःपर्यय और केवल

१. 'प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम् । श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थमिति ।'—सर्वार्थसिद्धि १-६ ।

ये दोनों ज्ञान सर्वदा सम्यक् ही हुआ करते हैं, कभी मिथ्यारूप नहीं होते। अतः इन दोनोंको अप्रमाणताकी कोटिसे बाहर रखा गया है।

### प्रमाण और अप्रमाणरूप सभी ज्ञानोंमें पदार्थग्रहणकी व्यवस्था

प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान व अवधिज्ञान एवं प्रमाणरूप मनःपर्ययज्ञान उस-उस ज्ञानावरण-कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको एकदेशरूपमें अखण्ड भावसे ग्रहण करते हैं, प्रमाणरूप केवलज्ञान समस्त ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको युगपत् सर्वदेशरूपमें अखण्ड भावसे ग्रहण करता है। लेकिन प्रमाण और अप्रमाण दोनों ही तरहका श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होने व उत्पत्तिमें सांश वचनका अवलम्बन आवश्यक रहनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थके एक-एक अंशको पृथक्-पृथक् कालमें क्रमशः ग्रहण करता हुआ पदार्थको सखण्डभावसे ही ग्रहण किया करता है।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनः-पर्यय ज्ञानमें अंशमुखेन अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है, प्रमाणरूप केवलज्ञानमें सर्वात्मना युगपत् अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है। परन्तु प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें पदार्थके एक-एक अंशका क्रमशः ग्रहण होता हुआ पदार्थके संपूर्ण अंशोंका ग्रहण सखण्डभावसे होता है क्योंकि प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति तो सांश और क्रमवर्ती प्रमाणरूप आप्तवचनसे तथा अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति सांश और क्रमवर्ती अप्रमाण-रूप अनाप्तवचनसे हुआ करती है। आगे वचनकी सांशताके विषयमें विचार किया जाता है।

### वचन सांश होता है

अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे वचन पाँच प्रकारका होता है। वचनके इन पाँचों प्रकारोंमेंसे शब्दके अंगभूत निरर्थक अकारादिवर्ण अक्षर कहलाते हैं, अर्थवान् अकारादि अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोंका अर्थवान् समुदाय 'शब्द' कहलाता है, अर्थवान् शब्दरूप प्रकृतिका संस्कृत भाषामें 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययके साथ संयोग होनेपर पदका<sup>२</sup> निर्माण होता है तथा परस्पर सापेक्ष दो आदि पदोंके निरपेक्ष समूहसे 'वाक्य'का<sup>३</sup> एवं परस्परसापेक्ष दो आदि वाक्योंके निरपेक्ष समूहसे 'महावाक्य'का निर्माण होता है। यद्यपि दो आदि महावाक्योंका भी निरपेक्ष समूह हुआ करता है परन्तु महावाक्योंके ऐसे समूहको भी 'महावाक्य' शब्दसे ही व्यवहृत किया जाता है।

१. 'सुप्तिङन्तं पदम्'—अष्टाध्यायी, पाणिनि, १-४-१४।
२. 'पदानां परस्परसापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।'—अष्टशतो, अकलङ्क, अष्टसहस्री पृ० २८५।
३. 'वाक्योच्चयो महावाक्यम्।'—साहित्यदर्पण, परिच्छेद २, श्लोक १।

इस श्लोकके 'वाक्योच्चयः' पदका विश्लेषण इसीकी टीकामें 'योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः' किया गया है। इस तरह महावाक्यका इस प्रकार लक्षण होता है—

'परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षः समुदायो महावाक्यम्।'

इस लक्षणके आधारपर ही गोम्मतसार जीवकाण्डके श्रुतज्ञानप्रकरणमें गिनाये गये श्रुतके भेदोंमेंसे आदिके अक्षर, पद और संघात (वाक्य) से आगे जितने भेद हैं वे सब महावाक्यके ही भेद समझना चाहिए।

नोट—इस टिप्पणीमें 'संघात' शब्दका अर्थ वाक्य हमने आप्तमीमांसाकी कारिका १०३ की अष्टसहस्री-टीकाके आधारपर किया है।

इस कथनसे यह बात निश्चित होती है कि अक्षर शब्दका, शब्द पदका, पद वाक्यका और वाक्य महावाक्यका यथायोग्य अंश होता है। इसी तरह एक अदि महावाक्य भी दो अदि महावाक्योंके समूहरूप महावाक्यके अंश सिद्ध हो जाते हैं। चूँकि वचनके अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद प्रमाणरूप आप्तवचन और अन्नमाणरूप अनाप्तवचन दोनोंमें ही समानरूपसे पाये जाते हैं। अतः प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनों ही समानरूपसे उक्त आधारपर सांश सिद्ध हो जाते हैं। वचनकी सांशता ही श्रुतज्ञानमें सांशता-सिद्धिका कारण है :

कोई भी ज्ञान, चाहे वह प्रमाणरूप हो अथवा चाहे अप्रमाणरूप हो, असंख्यात प्रदेशी अखण्ड आत्माके अखण्ड ज्ञानगुणकी अखण्ड पर्याय ही हो सकता है। यही कारण है कि प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान तथा अवधिज्ञानको व प्रमाणरूप मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानको निरंश मान लिया गया है। यद्यपि इस प्रकारसे तो प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानको भी निरंश मानना उचित प्रतीत होता है परन्तु प्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान एवं अप्रमाणरूप मतिज्ञान और अवधिज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनों तरहके श्रुतज्ञानमें यह विशेषता पायी जाती है कि इसकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारके सांश वचनके अवलम्बनसे हुआ करती है इसलिये प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनों ही प्रकारके श्रुतज्ञानको सांश मानना ही उचित है।

वचनकी सांशतासे ज्ञानमें सांशता-सिद्धिका प्रकार

(१) वचनमें वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पायी जाती है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक ऐसे पदार्थका प्रतिपादन करनेके लिए वचनका प्रयोग किया करता है।

(२) वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थका क्रमशः श्रोता या पाठकको बोध करानेके लिये ही वचनका प्रयोग किया करता है क्योंकि बोले गये वचनको सुनकर श्रोताको तथा लिखे गये वचनको पढ़कर पाठकको क्रमशः वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका बोध हो जाया करता है।

(३) चूँकि ऊपर बतलाये गये प्रकारसे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थ वचनका प्रतिपाद्य होता है और इस प्रकारका वचन-प्रतिपाद्य पदार्थ सांश होता है, यह आगे बतलाया जायगा तथा वचन भी सांश होता है, यह बतला ही चुके हैं। अतः वक्ता या लेखक द्वारा प्रयुक्त सांश वचनसे प्रतिपादित उक्त प्रकारके सांश पदार्थका श्रोता या पाठकको बोध भी सांशरूपमें ही होगा।

इन कारणोंके बलपर वचनकी सांशताकी सिद्धि होना अयुक्त नहीं है।

वचनके प्रयोग और उससे पदार्थ-प्रतिपादनकी व्यवस्था

ऊपर वचनके जो अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे पाँच भेद बतलाये गये हैं उनमेंसे पद, वाक्य और महावाक्यके रूपमें ही वचन प्रयोगार्ह होता है, अक्षर और शब्दके रूपमें नहीं, क्योंकि निरर्थक अक्षर तो हमेशा शब्दके अविभाज्य अंग ही रहा करते हैं, इसलिए उनका प्रयोग स्वतंत्ररूपमें न होकर शब्दके अंगरूपमें ही हुआ करता है तथा अर्थवान् अक्षर और निरर्थक दो अदि अक्षरोंके समुदायरूप शब्द भी संस्कृत भाषामें तो तभी प्रयुक्त होते हैं जबकि वे यथायोग्य 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययसे संयुक्त होकर पदका रूप धारण कर लेते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अक्षर और शब्द कभी प्रयोगार्ह नहीं होते हैं, केवल पद, वाक्य और महावाक्य ही प्रयोगार्ह होते हैं। पद, वाक्य और महावाक्यमेंसे पदको वक्ता या लेखक किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही प्रयुक्त करता है तथा वाक्य अथवा महावाक्यको वक्ता या लेखक कहीं तो यथायोग्य अनुकूल महावाक्यका अवयव मानकर प्रयुक्त करता है और कहीं आवश्यकतानुसार स्वतंत्ररूपमें प्रयुक्त करता है।

वचनसे होनेवाले पदार्थप्रतिपादनकी व्यवस्था यह है कि शब्दके अंगभूत अक्षर तो हमेशा निरर्थक ही रहा करते हैं। स्वतंत्र अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोंके समुदायरूप शब्द यद्यपि अर्थवान् होते हैं परन्तु इनका प्रयोग संस्कृत भाषामें तो यथायोग्य सुवन्त अथवा तिङन्त होकर पदका रूप धारण करनेपर ही संभव है। इसलिये शब्दके अंगभूत निरर्थक अक्षरों, अर्थवान् स्वतंत्र अक्षरों एवं दो आदि निरर्थक अक्षरोंके समुदायरूप अर्थवान् शब्दोंके विषयमें अर्थप्रतिपादनकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त वचनके जो पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद हैं उनका प्रयोग करके ही वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर सकता है। लेकिन इनमेंसे पद हमेशा वक्ता या लेखकके उक्त प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करनेमें ही समर्थ रहता है, वह कभी भी पदार्थके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं होता। यही कारण है कि वक्ता या लेखक एक तो कभी पदका प्रयोग स्वतंत्ररूपमें करता नहीं है और यदि कदाचित् वह उसका (पदका) प्रयोग स्वतंत्ररूपमें करता भी है तो वहाँपर भी वह उसका वह प्रयोग किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही करता है। इसलिये ऐसे स्थलपर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका बोध करनेके लिये यथायोग्य श्रोता या पाठक द्वारा अन्य अनुकूल पदका आक्षेप नियमसे कर लिया जाता है, क्योंकि पदके स्वतंत्र प्रयोगमें जबतक उसे किसी अनुकूल वाक्यका अवयव नहीं मान लिया जाता तब तक उससे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका पूर्णरूपसे प्रतिपादन होना तो दूर रहा, उससे उक्त पदार्थके अंशका प्रतिपादन होना भी असंभव बात है।

इस विषयमें उदाहरण यह है कि कोई वक्ता या लेखक कदाचित् सिर्फ अस्तित्वबोधक 'है' इस क्रियापदका यदि स्वतंत्र प्रयोग करता है तो जबतक इस क्रियापदके साथ वक्ता या लेखक द्वारा अपने अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये घड़ा, कपड़ा, आदमी आदि किसी अनुकूल संज्ञापदका प्रयोग नहीं किया जायगा अथवा प्रकरण आदिके आधारपर उक्त प्रकारके संज्ञापदका श्रोता या पाठक द्वारा स्वयं आक्षेप नहीं कर लिया जायगा तबतक उस श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमें क्या है? यह प्रश्न चक्कर काटता ही रहेगा। इसी तरह वक्ता या लेखक द्वारा घड़ा, वस्त्र, आदमी आदि किसी भी संज्ञापदका स्वतंत्र प्रयोग किये जानेपर श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमें नियमसे उत्पन्न होनेवाले प्रश्नका समाधान करनेके लिये 'है' इत्यादि क्रियापदके संबन्धमें प्रयोग या आक्षेपकी यही व्यवस्था लागू होती है।

इस उदाहरणसे यह समझा जा सकता है कि अन्य अनुकूल पदनिरपेक्ष स्वतंत्र पदका प्रयोग यदि कदाचित् कर भी दिया जाय तो भी वह पद उस हालतमें न तो वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करता है और न उस प्रकारके पदार्थके यथायोग्य किसी अंशका प्रतिपादन करता है लेकिन उसी पदको जब किसी अनुकूल पद या पदोंके साथ जोड़ दिया जाता है तो वाक्यका अवयव बन जानेपर वह तब वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन न करता हुआ भी उस पदार्थके अंशका नियमसे प्रतिपादन करने लग जाता है।



वाक्य और महावाक्य ऐसे वचन हैं कि जिनसे यथावसर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका अथवा उसके अंशका प्रतिपादन संभव है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यसे अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह उस वाक्य अथवा महावाक्यका स्वतंत्र रूपमें ही प्रयोग करता है और वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यसे उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह वाक्य या महावाक्यका प्रयोग स्वतंत्र रूपमें न करके किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें किया करता है अथवा यों कहिये कि किसी वाक्य अथवा महावाक्यका कहींपर किसी वक्ता या लेखक द्वारा यदि स्वतंत्र प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका ही प्रतिपादन होगा और यदि इसी वाक्य अथवा महावाक्यका वक्ता या लेखक द्वारा किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका ही प्रतिपादन होगा।

वाक्यका स्वतन्त्र रूपमें प्रयोग करनेके विषयमें उदाहरण यह है कि मान लीजिये—एक व्यक्ति स्वामी है और दूसरा व्यक्ति उसका सेवक है। स्वामी पानी बुलानेरूप पदार्थका मनमें संकल्प करके सेवकको बोलता है—‘पानी लाओ?’, सेवक भी इस एक ही वाक्यसे स्वामीके उस मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थको समझकर पानी लानेके लिये चल देता है। इस तरह यहाँपर ‘पानी लाओ’ यह वाक्य स्वामीके उल्लिखित पदार्थका ही प्रतिपादन कर रहा है तथा ‘पानी’ और ‘लाओ’ ये दोनों पद चूँकि ‘पानी लाओ’ इस वाक्यके अवयव बने हुए हैं अतः ये दोनों पद स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके एक-एक अंशका प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि उक्त दोनों पदोंको उक्त वाक्यसे पृथक् करके स्वतंत्र-स्वतंत्र रूपमें प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमें फिर वे दोनों ही पद न तो स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका प्रतिपादन करेंगे और न उस पदार्थके किसी अंशका ही प्रतिपादन कर सकेंगे।

स्वतन्त्र रूपसे प्रयुक्त महावाक्य अथवा उसके अवयवोंके रूपमें प्रयुक्त वाक्योंका उदाहरण यह है कि जब स्वामीका मनोगत अभिप्राय रूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ लोटा ले जाकर पानी लाने रूप हो तो वह अपने इस अभिप्रायरूप पदार्थको सेवकपर प्रकट करनेके लिये ‘लोटा ले जाओ और पानी लाओ’ इस तरह दो वाक्योंके समूहरूप महावाक्यका प्रयोग करता है।

यहाँ पर यह समझा जा सकता है कि ‘लोटा ले जाओ’ और ‘पानी लाओ’ ये दोनों वाक्य मिलकर एक महावाक्यका रूप धारण करके ही स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिनिपादन कर रहे हैं तथा ‘लोटा ले जाओ’ और ‘पानी लाओ’ ये दोनों वाक्य जबतक ‘लोटा ले जाओ और पानी लाओ’ इस महावाक्यके अवयव बने हुए हैं तब तक दोनों ही वाक्य वक्ता या लेखकके उल्लिखित पदार्थके एक एक अंशका प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि इन दोनों वाक्योंको इनके समूहरूप उक्त महावाक्यसे पृथक् करके स्वतंत्र-स्वतंत्र रूपमें प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमें ये दोनों ही वाक्य स्वतंत्र रूपसे स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पृथक्-पृथक् दो पदार्थोंका प्रतिपादन करने लगेंगे। उस हालतमें ये दोनों वाक्य न तो स्वामीके उल्लिखित महावाक्यके प्रयोगमें प्रतिज्ञात पदार्थके अंशोंका प्रतिपादन करेंगे और न पदकी तरह पदार्थके प्रतिपादनमें असमर्थ ही रहेंगे।

अनेक महावाक्योंके समूहरूप महावाक्य अथवा ऐसे महावाक्यके अवयवोंके रूपमें प्रयुक्त महावाक्योंका उदाहरण यह है कि आचार्य उमास्वामिने अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ मोक्ष-

मार्ग और उसके विषयभूत सप्ततत्त्वोंका प्रतिपादन करनेके लिये तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थरूप एक महावाक्यकी रचना की है तथा उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशभूत एक विषयका प्रतिपादन करनेके आधारपर उसके दश अध्यायरूप दश अंश बना दिये हैं। इस तरह दश अध्यायरूप दश महावाक्योंका समुदायरूप तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थ एक महावाक्य के रूपमें आचार्य श्री उमास्वामिके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर रहा है तथा उसके अंशभूत दशों अध्याय उस पदार्थके एक-एक अंशका प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि दूसरा कोई व्यक्ति इन दश अध्यायोंमें वर्णित प्रत्येक अध्यायके विषयको स्वतन्त्ररूपसे पृथक्-पृथक् प्रतिज्ञात करके अलग-अलग दश ग्रन्थोंका निर्माण कर देता है तो उस हालतमें स्वतन्त्ररूपमें निर्मित वे दश ग्रन्थ अपने-अपने विषयका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करने लगेंगे।

उपर्युक्त कथनसे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि प्रयुक्त होने व पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पद, वाक्य और महावाक्यमें ही पायी जाती है व दूसरी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पद, वाक्य और महावाक्यमेंसे पद हमेशा वाक्यका अवयव होकर ही प्रयुक्त होता है और वह हमेशा पदार्थ के अंशका ही प्रतिपादन करता है, शेष वाक्य और महावाक्य दोनों कहीं तो प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार स्वतन्त्ररूपमें प्रयुक्त होते हैं और कहीं वे प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार ही किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं। वाक्य और महावाक्य जहाँ स्वतन्त्ररूपमें प्रयुक्त होते हैं वहाँ तो वे प्रयोक्ताके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करते हैं और जहाँ किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें प्रयुक्त होते हैं वहाँ वे प्रयोक्ताके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशोंका ही प्रतिपादन करते हैं अथवा यों कहिये कि प्रयोक्ताको जहाँ किसी वाक्य अथवा महावाक्यसे उल्लिखित प्रकारके स्वतन्त्र पदार्थका प्रतिपादन करना होता है वहाँ तो वह उनका प्रयोग स्वतन्त्र रूपमें अलग-अलग ही करता है और जहाँ इनसे उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करना ही प्रयोक्ताका लक्ष्य रहता है वहाँ वह इनका प्रयोग अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें ही करता है।

वचनमें अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यका भेद करके जिस सांशताका विवेचन किया गया है वह सांशता जिस प्रकार ऊपर लौकिक वचनोंमें दर्शायी गयी है उसी प्रकार वह सांशता शास्त्रीय वचनोंमें भी दर्शायी जा सकती है। जैसे जैनदर्शनमें वस्तुको नित्य और अनित्य उभय धर्मात्मक माना गया है। इसके विपरीत सांख्यदर्शनमें उसे नित्यधर्मात्मक व बौद्धदर्शनमें उसे अनित्यधर्मात्मक स्वीकार किया गया है। इस तरह जैनदर्शनमें जहाँ भी 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँपर वह 'वस्तु नित्य है' और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है। यही कारण है कि उस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है। इसी प्रकार जैनदर्शनमें जहाँ भी 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँपर वह भी 'वस्तु नित्य है और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है। यही कारण है कि इस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है। इस तरह जैनदर्शनमें पाये जानेवाले इन दोनों प्रयोगोंसे हमेशा यथायोग्य नित्यानित्यात्मक वस्तुकी अंशात्मक नित्यता व अनित्यताका ही प्रतिपादन होता है। इसके विपरीत सांख्य दर्शनमें वस्तुको चूँकि सर्वथा नित्य माना गया है और बौद्धदर्शनमें उसे चूँकि सर्वथा अनित्य माना गया है अतः सांख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग एक दूसरे वचनका अवयव न होकर दोनों ही स्वतन्त्र प्रयोग सिद्ध होते हैं। अतः सांख्य और बौद्ध दर्शनोंमें पाये जानेवाले उस-उस प्रयोगसे यथायोग्य पदार्थके रूपमें ही नित्यता अथवा अनित्यताका प्रतिपादन होता है, पदार्थके अंशके रूपमें नहीं।

इस कथनसे एक बात यह भी फलित होती है कि वचनमें अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेदोंके आधारपर जिस सांशताका प्रतिपादन किया गया है वह सांशता प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनोंमें ही समानरूपसे पायी जाती है। जैनदर्शनमें प्रतिपादित वचनकी यह सांशता ही श्रुत-प्रमाण-में नयोत्पत्तिकी जननी है। आगे इसी विषयपर विचार किया जाता है।

नयोंका विकास :

इस लेखके प्रारम्भमें ही हम बतला आये हैं कि नयोंका आधारस्थल प्रमाण होता है। इसके साथ ही जैनागममें स्पष्टरूपसे यह बतलाया गया है कि नय प्रमाणका अंशरूप ही होता है। यथा—

नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।

स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्शथाप्यविरोधतः ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० १, सू० ६, वा० २८ ।

अर्थात् ज्ञानात्मक नय न तो अप्रमाणरूप होता है और न प्रमाणरूप ही होता है किन्तु प्रमाणका एक-देश (अंश) रूप ही होता है।

इससे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि नयव्यवस्था प्रमाणमें ही होती है, अप्रमाणमें नहीं। और दूसरी यह कि नय हमेशा प्रमाणका अंशरूप ही रहा करता है, वह स्वयं कभी पूर्ण रूप नहीं होता। अप्रमाणमें नयव्यवस्था नहीं होती—इसका खुलासा हम आगे करेंगे। अतः इसे छोड़कर यहाँपर हम इस बात-का स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं कि नय प्रमाणका अंशरूप ही रहा करता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः । —अ० १, सू० ६, वा० ४ ।

अर्थात् प्रमाणके विद्यभूत 'स्व' और 'पदार्थके एक देश (अंश)' का जिसके द्वारा निर्णय किया जाय वह नय कहलाता है।

इस पद्यमें नयको जो पदार्थके एकदेश (अंश) का ग्राहक प्रतिपादित किया गया है उससे सिद्ध होता है कि नय हमेशा प्रमाणका अंश ही हुआ करता है। सर्वार्थसिद्धिमें आचार्य पूज्यपादने भी लिखा है—

सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः ।

—तत्त्वा० १-६ ।

अर्थात् पदार्थका पूर्णरूपसे ग्राहक प्रमाण होता है और उसके अंशका ग्राहक नय होता है।

इस तरह नय जब प्रमाणका अंश सिद्ध हो जाता है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध हो जाती है कि नय-व्यवस्था सांश प्रमाणमें ही होती है, निरंश प्रमाणमें नहीं। इसका कारण भी यह समझना चाहिये कि निरंश ज्ञानमें ज्ञानका अखण्ड भाव रहनेके कारण अंशोंका विभाजन नहीं हो सकता है। इससे प्रमाणके पूर्वोक्त पाँच भेदोंमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि इन ज्ञानोंमें पदार्थग्रहणका अखण्ड भाव ही पाया जाता है और चूँकि श्रुतज्ञानमें पदार्थग्रहणके अंशोंका विभाजन होता है, अतः उसमें नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञानमें उस-उस ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण यद्यपि पदार्थका ज्ञान सर्वात्मना न होकर अंशमुखे ही होता है लेकिन वह ज्ञान होता अखण्डभावसे ही है। इसी तरह केवलज्ञानमें समस्त ज्ञानावरण-

कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण पदार्थका ग्रहण यद्यपि सर्वात्मना होता है तो भी वह ज्ञान चूँकि युगपत् सम्पूर्ण अंशोंका एक साथ ही हुआ करता है अतः वह भी अंशोंका भेदरहित अखण्डभावसे ही हुआ करता है। इस प्रकार इन चारों ज्ञानोंमें नयव्यवस्थाकी सिद्धि होना असम्भव बात है। लेकिन श्रुतज्ञानमें इन चारों ज्ञानोंकी अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक सांशवचनके अवलम्बनसे उत्पन्न होनेके कारण उसमें (श्रुतज्ञानमें) पदार्थका ज्ञान अखण्डभावसे न होकर पदार्थके एक-एक अंशका क्रमशः ज्ञान होता हुआ सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान हो जाया करता है, इसलिये इस ज्ञानमें पदार्थग्रहणका सखण्ड-भाव रहनेके कारण नयव्यवस्थाकी सिद्धि हो जाती है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (१-३३-६) में जो नयका लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसमें तो स्पष्टरूपसे कहा गया है कि नयव्यवस्था श्रुतज्ञान में ही होती है। यथा—

“नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।”

अर्थात् जिसके द्वारा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणके विषयभूत पदार्थके अंशका ज्ञान किया जाय वह नय कहलाता है।

नयव्यवस्था श्रुतज्ञानमें ही होती है, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञानमें नहीं होती, इसकी पुष्टि इसी ग्रन्थके निम्नलिखित वार्त्तिकोंसे भी होती है—

“मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा ।  
ज्ञातस्यार्थस्य नांशोऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥  
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात् ।  
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टतः ॥  
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः ।  
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ।  
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु ।  
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥

—त० श्लो० १-६-२४, २५, २६, २७ ।

इन वार्त्तिकोंका अर्थ यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें नयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि इन ज्ञानोंमें निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है। अर्थात् ये तीनों ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करनेमें असमर्थ रहते हैं। केवलज्ञान यद्यपि अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है लेकिन उसके (केवलज्ञानके) ग्रहणमें स्पष्टता<sup>१</sup> (प्रत्यक्षाकारता) पायी जाती है जब कि नयोंके ग्रहणमें परोक्षाकारता ही रहा करती है। इस प्रकार नयोंका उद्भव मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें न होकर श्रुतज्ञानमें ही होता है, क्योंकि वह एक तो अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है। दूसरे उसमें परोक्षाकारता<sup>२</sup> पायी जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये दो बातें अपेक्षित हैं— एक तो प्रमाणकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता और और दूसरी परोक्षाकारता। प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिहेतु निःशेष-

१. विशदं प्रत्यक्षम् । —परीक्षामुख २-३ ।

२. आद्ये परीक्षम् । —तत्त्वार्थसू० १-११ ।

देशकालार्थविषयिताके सद्भावका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिकी जाय उसके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका विषय होना आवश्यक है। इसका निष्कर्ष यह है कि मतिज्ञान, अविज्ञान और मनः-पर्ययज्ञानरूप प्रमाणोंमें क्षायोपशमिकज्ञान होनेके कारण चूँकि निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है अतः इनमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिका विरोध किया गया है। इसी प्रकार प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिहेतु परोक्षाकारताका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धि की जाय उस प्रमाणके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान क्रमशः होना आवश्यक है कारण कि पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान प्रमाण द्वारा यदि युगपत् होता है तो उसमें अंशोंका विभाजन होता असम्भव है। इसका निष्कर्ष यह है कि केवलज्ञानमें निःशेष-देशकालार्थविषयिताका सद्भाव रहते हुए भी क्षायिकज्ञान होनेके कारण प्रत्यक्षाकारता आ जानेसे पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान चूँकि युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है। अतः उसमें (केवलज्ञानरूप प्रमाणमें) भी नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है और चूँकि श्रुतज्ञान एक ऐसा प्रमाण है कि जिसमें निःशेषदेशकालार्थ-विषयिता और परोक्षाकारता दोनों ही बातें पायी जाती हैं अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा एक तो पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान होता है और दूसरे क्षायोपशमिक व वचनावलम्बी ज्ञान होनेके कारण उसमें (श्रुतज्ञानमें) परोक्षा-कारताके आजानेसे पदार्थके उन सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान क्रमशः सखण्डभावसे ही हुआ करता है, अतः उसमें नय-व्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है। स्वामी समन्तभद्रने श्रुतज्ञानको क्रमशः सर्वतत्त्वप्रकाशक स्वीकार किया है। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ —आप्तमीमांसा, का०, १०५ ।

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही पदार्थको सर्वात्मना ग्रहण करते हैं लेकिन केवलज्ञान जहाँ पदार्थको साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्षरूपमें युगपत् अखण्डभावसे ग्रहण करता है वहाँ श्रुतज्ञान उसे असाक्षात् अर्थात् परोक्षरूपमें क्रमशः सखण्डभावसे ही ग्रहण करता है।

तात्पर्य यह है कि पदार्थका जहाँ सम्पूर्णताके साथ ग्रहण होता है वहाँ पदार्थके संपूर्ण अंशोंका ग्रहण होता हुआ भी यदि वह ग्रहण प्रत्यक्षरूपमें होता है तो उसमें पदार्थके वे संपूर्ण अंश युगपत् अखण्डभावसे ही गृहीत होते हैं और यदि वह ग्रहण परोक्षरूपमें होता है तो उसमें पदार्थके वे संपूर्ण अंश क्रमसे एक-एक अंशके रूपमें सखण्डभावसे ही गृहीत होते हैं।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंके मध्य इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानमें पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ग्रहण प्रत्यक्षरूपमें होनेके कारण युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है और श्रुतज्ञानमें पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ग्रहण परोक्षरूपमें होनेके कारण क्रमशः सखण्डभावसे ही हुआ करता है।

स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि—

‘तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ —आप्तमीमांसा का० १०१ ।

अर्थात् हे भगवन् आपके मतमें युगपत् सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् केवलज्ञान और स्याद्वादनयसे संस्कृत क्रमसे उत्पन्न होनेवाला सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान दोनों ही प्रमाणरूप माने गये हैं।

इससे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें उल्लिखित प्रकारका अन्तर स्पष्टरूपसे समझमें आ जा जाता है।

इस तरह आगमप्रमाणोंके आधारपर यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि नयव्यवस्था श्रुत-ज्ञानमें ही होती है।

### श्रुतज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका स्पष्टीकरण

ऊपर तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६ के व्याख्यानस्वरूप तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके २४ से २७ संख्या तकके वार्तिकोंमें नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका कथन किया है। परन्तु उसका रूप ऐसा होना चाहिये कि वह श्रुतज्ञानके साथ-साथ केवलज्ञानमें तो पायी जाती हो, किन्तु मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें न पायी जाती हो।

केवलज्ञानमें विद्यमान तत्त्वार्थसूत्रके 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'। (१-२९) सूत्रमें प्रतिपादित निःशेष-देशकालार्थविषयिता ऐसी है कि इसका श्रुतज्ञानमें पाया जाना संभव नहीं है, कारण कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानकी तरह श्रुतज्ञान भी तो क्षायोयशमिक ज्ञान है और यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके ही 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' (१-२६) सूत्र द्वारा मतिज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमें भी उसका निषेध कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार विश्वमें अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता लिये हुए अनन्त वस्तुएँ विद्यमान हैं व इनमेंसे प्रत्येक वस्तु अपने अन्दर अपने-अपने पृथक् अनन्त धर्मोंको समाये हुए है। विश्वकी इस प्रकारकी सभी वस्तुएँ 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' सूत्रके अनुसार अपने-अपने उन अनन्त धर्मोंके साथ केवलज्ञानका विषय तो होती हैं परन्तु 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।' सूत्रके अनुसार मतिज्ञान व श्रुतज्ञानका विषय नहीं होती हैं।

इससे सिद्ध होता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें जो अनन्तधर्मात्मकता जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत की गयी है उसके आधारपर निष्पन्न ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता श्रुतज्ञानमें स्वीकृत नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त कथनके अनुसार श्रुतज्ञानमें उसका अभाव रहता है। इस तरह प्रकृतमें यह प्रश्न होता है कि, उक्त निःशेषदेशकालार्थविषयिताको छोड़कर ऐसी कौनसी ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता है जो केवलज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमें पायी जाकर नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी हो ?

विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु जैनदर्शनकी मान्यतानुसार जिस प्रकार अनन्तधर्मात्मक है उसी प्रकार वह अनेकान्तात्मक भी है। यहाँपर परस्पर विरोधी दो धर्मोंका एक ही साथ एक वस्तुमें पाया जाना उस वस्तुकी अनेकान्तात्मकता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें जैसे उसके अनन्तधर्म एक साथ रह रहे हैं वैसे ही परस्पर-विरोधी दो धर्म भी रह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुकी अनेकान्तात्मकताके कथनमें जो अनेकान्त शब्द आया है उसमें गभित अनेक शब्दका अर्थ जैनदर्शनमें 'दो' लिया गया है। इसका कारण यह है कि परस्पर विरोधिता दो धर्मोंमें ही संभव हो सकती है, तीन, चार आदि संख्यात, असंख्यात व अनन्तधर्मोंमें नहीं। और इसका भी कारण यह है कि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक ही धर्म हो सकता है, दो, तीन, चार आदि धर्म नहीं, क्योंकि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक धर्म यदि है तो तीसरा एक धर्म उन दोनोंका प्रतिपक्षी कदापि नहीं हो सकता है अर्थात् तीसरा एक धर्म यदि प्रथम एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो प्रथम एक धर्मके प्रतिपक्षी दूसरे एक धर्मका वह नियमसे सपक्षी हो जायगा, और यदि वह दूसरे एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो उस हालतमें वह प्रथम एक धर्मका नियमसे सपक्षी हो जायगा। यही नियम चौथे, पाँचवें आदि संख्यात, असंख्यात और अतन्तधर्मोंके विषयमें भी जान लेना चाहिये। इस अभिप्रायसे ही जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुगत अनन्तधर्मसापेक्ष अनन्त वचनप्रयोगोंके आधारपर सप्त-भंगीके विरुद्ध अनन्तभंगीकी प्रसवितको परस्परविरोधी युगलधर्मोंके आधारपर अनन्त सप्तभंगीके रूपमें दृष्ट मान लिया गया है। यथा—

'नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनन्ता एव वचनमाणाः स्याद्वादिनां

भवेयुर्न पुनः सप्तैव, वाच्येयत्तात्वाद्वाचकेयत्तायाः । ततो विरुद्धैव सप्तभङ्गीति चेत्, न, विधीय-  
माननिषिध्यमानधर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात्, 'प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गी वस्तुनि' इति वचनात् ।  
ततो अनन्ताः सप्तभङ्गधो भवेयुरित्यपि नानिष्टम् । —त० श्लोकवा० १-६-५२

अर्थात् शंका पक्ष कहता है कि एक वस्तुमें कथन करने योग्य जब अनन्तधर्म स्वीकार किए गये हैं तो इनका कथन करनेके लिए स्याद्वादियोंके सामने अनन्तसंख्यक वचनमार्गोंकी प्रसक्ति होती है, केवल सात वचनमार्गोंकी नहीं, क्योंकि जितने वाच्य होते हैं उतने ही वाचक हो सकते हैं, हीनाधिक नहीं, अतः सप्त-  
भंगीकी मान्यता असंगत है ।

उत्तर पक्ष यह है कि सप्तभंगीकी मान्यता विधीयमान और निषिध्यमान युगलधर्मोंके विकल्पोंके आधारपर जैनदर्शनमें स्वीकृत की गयी है, अनन्तधर्मोंके विकल्पोंके आधारपर नहीं, कारण कि 'प्रत्येक पर्यायमें सप्तभंगी सिद्ध होती है' ऐसा आगमका निर्देश है । इस तरह प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्ममें विधीयमान और निषिध्यमान धर्मयुगलकी स्वीकृतिके आधारपर सप्तभंगीको स्थान प्राप्त हो जानेसे अनन्तभंगीके बजाय अनन्त सप्तभंगीकी स्वीकृति हम स्याद्वादियोंके लिये अनिष्ट नहीं है ।

वस्तुका अनन्तधर्मात्मक होना एक बात है और उसका अनेकान्तात्मक होना दूसरी बात है । इन दोनोंमेंसे जैनेतर दर्शनकारोंके लिये वस्तुको अनन्तधर्मात्मक माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि पृथ्वीमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चतुष्टयको वे भी एक साथ स्वीकार करते हैं । परन्तु वे ( जैनेतर दर्शन ) वस्तुको अनेकान्तात्मक स्वीकार करनेमें हिचकिचाते हैं । इसके विपरीत जैनदर्शनकारोंने वस्तुको अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तात्मक उभयरूप स्वीकार किया है । उपर्युक्त प्रकारके अनेकान्तकी स्वीकृतिके आधारपर ही जैनदर्शनको अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है । और उसकी अस्वीकृतिके आधारपर ही जैनेतर दर्शनोंको एकान्तवादी दर्शन कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि परस्पर-अविरोधी अनन्तधर्मोंकी सत्ता एक साथ ही वस्तुमें जैन और जैनेतर दोनों दर्शनोंमें स्वीकार की गयी है । परन्तु परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सत्ता एक साथ एक ही वस्तुमें जैनदर्शन तो स्वीकार करता है किन्तु जैनेतर दर्शन नहीं स्वीकार करते हैं । जैनेतर दर्शनोंमेंसे कोई दर्शन परस्पर विरोधी दो धर्मोंमें यदि एक धर्मको स्वीकार करता है तो द्वितीय धर्मका वह निषेधक हो जाता है और कोई जैनेतर दर्शन यदि द्वितीय धर्मको स्वीकार करता तो प्रथम धर्मका वह निषेधक हो जाता है । जैसे सांख्य दर्शन बतलाता है कि 'वस्तु नित्य है' और बौद्धदर्शन बतलाता है कि 'वस्तु अनित्य है ।' परन्तु जैनदर्शन प्रतिपादन करता है कि 'वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है ।'

अनेकान्तके अंगभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलके प्रत्येक वस्तुमें अनन्त विकल्प समाये हुए हैं । उनमेंसे अनेकान्तका स्वरूप प्रदर्शित करनेके लिए आचार्य श्री अमृतचन्द्रने समयसारके स्याद्वादाधिकार प्रकरणमें कतिपय परस्पर-विरोधी धर्मयुगलोंकी गणना भी की है । यथा—

'यदेव तत् तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्य-

मित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः ।'

अर्थात् जो ही वह है वही वह नहीं है, जो ही एक है वही एक नहीं है अर्थात् अनेक है, जो ही सत् है वही सत् नहीं है अर्थात् असत् है और जो ही नित्य है वही नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है—इस प्रकार एक वस्तुके वस्तुत्व ( स्वरूप ) की निष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयका प्रकाशन करता ही अनेकान्त है ।

इसका आशय यह है कि विश्वकी अनन्तानन्त वस्तुओंमेंसे प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् द्रव्यरूपता ( प्रदेशवत्ता ), गुणरूपता ( स्वभाववत्ता ) और पर्यायरूपता ( परिणमनवत्ता ) को लिये हुए ही

अस्तित्वको प्राप्त हो रही है। आचार्य श्री कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी गाथा-संख्या १ के द्वारा वही बात बतलायी है। यथा—

‘अथो खलु द्रव्यमयो द्रव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।  
तेहि पुणो पज्जाया—’

अर्थात् अर्थ यानी पदार्थ ( वस्तु ) द्रव्यरूपताको लिए हुए हैं, द्रव्य गुणात्मक होता है और द्रव्य तथा गुण दोनोंमें पर्यायरूपता भी पायी जाती है।

तात्पर्य वह है कि प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति ( प्रदेशरचना ) उपलब्ध होती है, यही उसकी द्रव्यरूपता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपताके आधारपर अपनी पृथक्-पृथक् प्रकृति (स्वभावशक्ति) हुआ करती है—यही उसकी गुणरूपता है और इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारको द्रव्यरूपता और गुणरूपताके अनुरूप अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विकृति अर्थात् परिणति भी देखी जाती है। यह उसकी पर्यायरूपता है। प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त आकृति-रूप द्रव्यरूपता और प्रकृतिरूप गुणरूपता दोनों ही शाश्वत ( स्थायी ) हैं तथा विकृतिरूप पर्यायरूपता समय, आवली, मुहूर्त, घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके रूपमें विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) हैं। जैनदर्शनमें इन्हीं तीन बातोंके आधारपर प्रत्येक वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली<sup>१</sup> माना गया है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायोंके रूपमें उत्पाद तथा व्यय एवं द्रव्यत्व तथा गुणत्वके रूपमें ध्रौव्यका सद्भाव जैनदर्शनद्वारा स्वीकार किया गया है।

प्रत्येक वस्तुकी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् एक वस्तुकी जो आकृति, प्रकृति और विकृति है वह कदापि दूसरी वस्तुकी नहीं हो सकती है। अतः इस स्थितिके आधारपर ही जैनदर्शनमें यह सिद्धान्त मान्य किया गया है कि ‘जो ही वह है वही वह नहीं है।’ इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि एक वस्तु कभी दूसरी वस्तु नहीं बन सकती<sup>२</sup> है। यानी जीव पुद्गल आदि अन्य वस्तु नहीं बन सकता है, वह हमेशा जीव ही रहता है और यहाँतक कि एक जीव कभी दूसरे जीवरूप भी परिणत नहीं हो सकता है। इस सिद्धान्तके अनुसार ही विश्वमें विद्यमान वस्तुओंकी नियत<sup>३</sup> परिमाणमें अनन्तानन्त संख्या निश्चित की गयी है।

ऊपर किये गये कथनके आधारपर प्रत्येक वस्तुके निम्न प्रकारसे तीन विकल्प-युगलोंके रूपमें अंश-भेद निर्धारित होते हैं—(१) एक द्रव्य उसके गुणोंके रूपमें, (२) द्रव्य और उसकी पर्यायोंके रूपमें और (३) गुण और उसकी पर्यायोंके रूपमें। इन सभी विकल्प-युगलोंपर जब ध्यान दिया जाता है तो समझमें आ जाता है

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।’—तत्वार्थसूत्र ५-३० ।

२. णवि परिणमइ ण गिह्वइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए ।

गाणी जाणंतो विहु पुग्गलकम्पं अणयविहं ॥६६॥

समयसारकी इस गाथाको आदि देकर ७७, ७८ और ७९ संख्यांक गाथाओंमें आचार्य श्री कुन्दकुन्दने जो भी विवेचन किया है वह ‘जो ही वह है वही वह नहीं है’ इस सिद्धान्तके आधारपर ही किया है।

३. ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये धावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीय-द्रव्यान्तर्मनानन्तस्वधर्मचक्रचुंबिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पर-रूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः।’ आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा समयसार गाथा २ पर किया गया यह व्याख्यान इसी मान्यतापर आधारित है।



कि प्रत्येक द्रव्यमें अनेक गुण विद्यमान रहते हैं तथा प्रत्येक द्रव्य व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणकी क्रमवर्ती अनेक पर्यायें हुआ करती हैं। इस आधारपर ही जैनदर्शनमें यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'जो ही एक है वही एक नहीं है अर्थात् अनेक है।'

प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (अवस्था) के आधार ही हुआ करता है। इनमेंसे द्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने जो और जितने प्रदेश हैं वह उन्हीं और उतने प्रदेशोंके रूपमें सत् है, उन प्रदेशोंसे भिन्न अन्य प्रदेशोंके रूपमें वह सत् नहीं है अर्थात् असत् है। क्षेत्रके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु आकाशके जिन और जितने प्रदेशोंपर स्थित है वह आकाशके उन और उतने ही प्रदेशोंपर सत् है, उन प्रदेशोंसे भिन्न आकाशके अन्य प्रदेशोंपर वह सत् नहीं है अर्थात् असत् है। कालद्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार है कि जिन और जितने कालाणुओंसे वस्तु संबद्ध है वह उन और उतने कालाणुओंपर सत् है, उन कालाणुओंसे भिन्न अन्य कालाणुओंपर सत् नहीं है अर्थात् असत् है। व्यवहारकालके आधारपर भी जिस समय वस्तु विद्यमान है वह उस समय सत् है, अन्य कालमें वह असत् है। इसी तरह भावके आधारपर भी वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि कोई भी वस्तु अपनी जिस अवस्थामें विद्यमान है वह उसी अवस्थामें सत् है, उससे भिन्न अन्य अवस्थामें वह सत् नहीं है अर्थात् असत् है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने अनेकान्तका लक्षण बतलाते हुए उल्लिखित विकल्पोंके साथ एक चौथा विकल्प यह भी बतलाया है कि जो ही नित्य है वही नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रत्येक वस्तु पूर्वोक्त प्रकारसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है क्योंकि वह द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको धारण किये हुये है। वस्तुका जहाँ तक द्रव्यरूपता और गुणरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक तो वह ध्रौवरूप है और जहाँ तक उसका पर्यायरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक वह उत्पाद और व्ययरूप है। इनमेंसे ध्रौव्य वस्तुकी नित्यताका चिह्न है और उत्पाद तथा व्यय उसकी अनित्यताके चिह्न है।

जिस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रने वस्तुतत्त्वको अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए उस अनेकान्तके तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य ये चार विकल्प-युगल बतलाते हैं उसी प्रकार उन्होंने समय-सारकी गाथा १४२ की टीकामें आत्म-तत्त्वका अवलम्बन लेकर बद्ध-अबद्ध, मोही-अमोही, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विविध प्रकारके और भी विकल्प-युगलोंका प्रतिपादन किया है। इस तरह हम देखते हैं कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकारसे परस्परविरोधी दो धर्मोंका आश्रय सिद्ध होती हुई अनेकान्तत्मक सिद्ध होती है। इसका केवलज्ञानद्वारा सर्वात्मना ग्रहण युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है। अतः इस अपेक्षासे केवलज्ञानमें निःशेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है। व श्रुतज्ञानद्वारा परस्पर-विरोधी उक्त दोनों अंशोंमेंसे एक-एक अंशका क्रमसे ग्रहण होता हुआ सर्वात्मना ग्रहण सखण्ड भावसे हुआ करता है। अतः श्रुतज्ञानमें भी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है। लेकिन मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन-पर्ययज्ञानके द्वारा इस अनेकान्तत्मक वस्तुका न तो युगपत् अखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है और न क्रमशः सखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है। प्रत्युत अंशमुखेन सामान्यतया वस्तुका ही ग्रहण होता है। अतः इन तीनों ज्ञानोंमें उक्त प्रकारकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव सिद्ध हो जाता है।

वस्तुकी परस्पर-विरोधी धर्मद्वयात्मकतारूप अनेकान्तात्मकता उस (वस्तु) की पूर्णता है। उस वस्तुका इस तरहकी पूर्णताके साथ ग्रहण होना प्रमाणरूप है तथा अंशरूपसे ग्रहण होना नयरूप है। मतिज्ञान, अवधि-ज्ञान और मन-पर्ययमानमें वस्तुका ग्रहण यद्यपि अंशरूपसे ही होता है परन्तु वह ग्रहण अंशरूपमें विभाजित

नहीं हो पाता है क्योंकि उस ग्रहणमें अंशमुखेन वस्तुका ही ग्रहण होता है, वस्तुके अंशका नहीं। जैसे चक्षु-रिन्द्रिय द्वारा रूपमुखसे रूपवान् वस्तुका ही ग्रहण होता है, वस्तुके एक अंशके रूपमें रूपका ग्रहण नहीं होता यही कारण है कि अंशमुखेन वस्तुका ग्रहण होता हुआ भी वस्तुके अंशका अंशरूपसे ग्रहण न होनेसे मतिज्ञान निरंश प्रमाण ही मानने योग्य है। यही बात धायोपशमिकज्ञानरूप अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। इस तरह ये तीनों ज्ञान कभी नयरूपताको प्राप्त नहीं होते हैं। केवलज्ञानमें वस्तुका ग्रहण सर्वात्मना होता है, इसलिये उसकी प्रमाणरूपता निर्विवाद है। लेकिन उसमें वस्तुके सम्पूर्ण अंश युगपत् गृहीत होनेके कारण पृथक्-पृथक् रूपमें गृहीत नहीं होते, इसलिये उसमें भी नयरूपताका अभाव सिद्ध हो जाता है। श्रुतज्ञानमें प्रमाणरूपता इसलिये सिद्ध होती है कि उसमें उल्लिखित अनेकान्तरूप पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है लेकिन चूँकि श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारसे सांश वचनके आधारपर हुआ करती है। अतः जिस वचनसे अंशी (पूर्ण) रूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे तो प्रमाणरूप सांश वचन जानना चाहिये और जिस वचनसे अंशरूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे नयरूप अंशात्मक वचन जानना चाहिये। तथा इस तरहके प्रमाणरूप और नयरूप वचनोंके आधारपर उत्पन्न होनेवाले श्रुतरूप ज्ञानको भी क्रमशः प्रमाणरूप और नयरूप जानना चाहिये।

**अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें नयव्यवस्थाका निषेध क्यों ?**

पूर्वमें यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि जिस प्रकार सांश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें सांशता सिद्ध होती है उसी प्रकार सांश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें भी सांशता सिद्ध होती है। इसलिये जिस प्रकार प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें भी नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होनेका प्रसंग उपस्थित होता है, लेकिन आगमप्रमाणके आधारपर पूर्वमें यह बतलाया जा चुका है कि अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें नयव्यवस्था नहीं होती है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि सांशवचनके आधारपर उत्पन्न होनेकी समानता रहते हुए भी अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें ऐसी विशेषता पायी जाती है जो उसमें नयव्यवस्थाका कारण बन जाती है और चूँकि वह विशेषता अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें नहीं पायी जाती है, अतः उसमें नयव्यवस्थाका निषेध संगत हो जाता है।

वह विशेषता यह है कि पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक ही सिद्ध होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान उसके अपने अनन्तधर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्म उस वस्तुमें अपने विरोधी धर्मके साथ ही रह रहा है। जैसे घटरूप वस्तुमें जिस प्रकार घटत्वधर्मका सद्भाव पाया जाता है उसी प्रकार उसमें घटत्वधर्मके विरोधी पटत्व आदि धर्मका अभाव भी पाया जाता है। यही कारण है कि हमें घटरूप वस्तुमें जिस प्रकार घटरूपताका ज्ञान होता है उसी प्रकार उसमें पटादिरूपताके अभावका ज्ञान होना भी स्वाभाविक है। अब जैसा घटरूप वस्तुमें घटरूपताके सद्भाव और पटादिरूपताके अभावका ज्ञान हमें होता है वैसा ज्ञान उस घटरूप वस्तुमें हम यदि दूसरे व्यक्तिको कराना चाहें तो इसके लिए हमें तदनुकूल वचनको या तो मुखसे उच्चरित करना होगा या फिर उसे हस्तसे लिपिबद्ध करना होगा, तब कहीं जाकर दूसरा व्यक्ति उच्चरित वचनको तो सुनकर व लिपिबद्ध वचनको पढ़कर ही घटरूप वस्तुके विषयमें हमारा पूर्ण अभिप्राय जान सकेगा। चूँकि यह बात निर्विवाद है कि प्रत्येक वचन शब्दकोष, शब्दव्युत्पत्ति अथवा शब्दपरिभाषा आदिका अवलम्बन लेकर प्रतिनियत अर्थका ही प्रतिपादक होता है। इसलिये जब हम 'यह घट है' यह वाक्य बोलते हैं तो इससे लक्षित वस्तुमें घटरूपताका प्रतिपादन तो हो जाता है परन्तु इससे उस वस्तुमें पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन कदापि नहीं हो पाता है। अतः लक्षित वस्तुमें घटरूपताके सद्भावके साथ पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन

करनेके लिये 'यह घट है' इस वाक्यके साथ 'पटादि नहीं है' इस वाक्यका भी प्रयोग करना होगा, तब जाकर ही वचनके श्रोता या पाठकको वह लक्षित वस्तु घटरूपताको लिए हुए है व पटादिरूपताको लिये हुए नहीं है— ऐसा पूर्णता लिये हुए वस्तुका बोध होगा। इस तरह 'यह घट है' यह वाक्य और 'पटादि नहीं है' यह वाक्य दोनों ही 'यह घट है पटादि नहीं है' इस महावाक्यके अवयव हो जानेपर वस्तुका सही रूपमें प्रतिपादन करते हुए श्रोता या पाठकको उस वस्तुत्वका सही रूपमें बोध करा सकते हैं।

यहाँ पर समझनेकी बात यह है कि 'यह घट है पटादि नहीं है' यह महावाक्य वस्तुत्वका पूर्णरूपसे प्रतिपादक होने व श्रोता या पाठकको उस वस्तुत्वका पूर्णताके साथ ज्ञान करानेमें समर्थ होनेके कारण प्रमाणवाक्य है तथा इस महावाक्यके अवयवभूत 'यह घट है' और 'पटादि नहीं है' ये दोनों वाक्य नयवाक्य हैं व इन दोनों वाक्योंके समूहरूप 'यह घट है पटादि नहीं है' इस महावाक्यके जरिये श्रोता या पाठकको होने-वाला वस्तुत्वका पूर्णता लिये हुए ज्ञान प्रमाणज्ञान है व इस महावाक्यके अवयवभूत 'यह घट है' और 'पटादि नहीं है' इन दोनों वाक्योंसे श्रोता या पाठकको होनेवाला वस्तुत्वके एक-एक अंशका ज्ञान नयज्ञान है। यही बात 'वस्तु नित्य है और नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है' इस महावाक्य तथा इसके अवयवभूत 'वस्तु नित्य है' और 'वस्तु नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है' इन वाक्योंके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

अब देखना यह है कि अप्रमाणज्ञानमें नयव्यवस्था क्यों नहीं होती? तो इसपर ध्यान देनेसे मालूम पड़ता है कि जितनी भी एकान्तवादकी मान्यतायें हैं उनमें जिस एक धर्मको जिस वस्तुमें स्वीकार किया गया है उस वस्तुमें उस धर्मके साथ उस धर्मके विरोधी धर्मको जैसा जैनदर्शनमें स्वीकार किया गया है वैसा उन मान्यताओंमें स्वीकार नहीं किया गया है। जैसे जैनदर्शन कहता है कि जब वस्तुमें पूर्वोक्त प्रकारसे आकृति, प्रकृति और विकृतिके रूपमें क्रमशः द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता पायी जाती है तो फिर यह मानना भी आवश्यक हो जाता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता और गुणरूपता तो शाश्वत होनेसे नित्य है तथा उसकी पर्यायरूपता अशाश्वत होनेसे अनित्य है। लेकिन वस्तुत्वकी यह स्थिति सही होते हुए भी जो दर्शन वस्तुको नित्य मानता है वह उसे अनित्य माननेके लिये तैयार नहीं है और जो दर्शन वस्तुको अनित्य मानता है वह उसे नित्य माननेके लिये तैयार नहीं है इसलिये ये दोनों ही एकान्तवादी दर्शन अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार 'वस्तु नित्य है' या 'वस्तु अनित्य है' इन दो वाक्योंमेंसे एक ही वाक्यसे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर देना चाहते हैं। लेकिन वास्तवमें बात यह है कि जैसा नित्यरूप या अनित्यरूप वस्तुको वे मानते हैं वैसा उस वस्तुका पूर्णरूप न होकर अंशमात्र सिद्ध होता है। अतः 'वस्तु नित्य है' और 'वस्तु अनित्य है' ये दोनों वाक्य पृथक्-पृथक् रहकर चूंकि वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर नहीं सकते हैं, इसलिये तो इन्हें प्रमाणवाक्य नहीं कहा जा सकता है और वे एकान्तवादी दर्शन इन वाक्योंको वस्तुके अंशके प्रतिपादक माननेको तैयार नहीं है। इसलिये इन्हें नयवाक्य भी नहीं कहा जा सकता है। इस तरह ये दोनों ही वाक्य प्रमाण-वाक्य तथा नय-वाक्यकी कोटिसे निकल कर अप्रमाण या प्रमाणासम्भाकी कोटिमें ही गर्भित होते हैं। इन्हें नयाभास इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि एक नयके विषयको दूसरे नयके विषयरूपमें स्वीकार करना या कथन करना ही नयाभासका लक्षण है जो यहाँ पर घटित नहीं होता है।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तु नित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है और 'वस्तु अनित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है। अब यदि कोई व्यक्ति वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपताको अनित्य तथा पर्यायरूपताको नित्य मानने या कहने लग जाय तो उस हालतमें ऐसी मान्यता या ऐसा कथन ही नयाभास माना जायगा।

इस प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य नयवाक्य है क्योंकि इससे वस्तुके नित्यतारूप अंशका प्रतिपादन होता है तथा सांख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य प्रमाणाभास है या अप्रमाण है क्योंकि इस वाक्यसे सांख्य वस्तुके नित्यतारूप अंशका प्रतिपादन करना नहीं चाहता है और चूंकि वह नित्यतारूप अंशसे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करना चाहता है, जैसा प्रतिपादन होना असंभव है, क्योंकि वस्तु मात्र नित्यरूप ही नहीं है बल्कि नित्य होनेके साथ-साथ वह अनित्य भी है। इसी प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह वाक्य और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है।' यह वाक्य इन दोनोंके विषयमें क्रमशः नयरूपता और अप्रमाण-रूपताकी ऐसी ही व्यवस्था समझ लेना चाहिये।

### उपसंहार

इस संपूर्ण विवेचनका सार यह है कि विश्वकी संपूर्ण अनन्तानन्त वस्तुओंमेंसे प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने इन अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्मके साथ ही प्रत्येक वस्तुमें रह रहा है। इसलिये प्रत्येक वस्तुको जैनदर्शनमें अनेकान्तात्मक माना गया है। इस अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करना वचनका कार्य है। वचन भी यदि वस्तुके परस्परविरोधी दोनों धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है तो उसे प्रमाणरूप कहा जायगा और यदि वह परस्परविरोधी दोनों धर्मोंमेंसे एक-एक धर्मका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है तो वह नयरूप माना जायगा। इसके विपरीत उक्त प्रकारके अनेकान्तात्मकरूपसे प्रसिद्ध वस्तुके किसी एक धर्मके रूपमें एकान्तात्मक मानकर उसे जिस वचन द्वारा प्रतिपादित किया जायगा वह वचन अप्रमाणरूप माना जायगा, क्योंकि वस्तुका जैसा अनेकान्तात्मक स्वरूप है वैसा उस वचनसे प्रतिपादित नहीं होगा और जैसा एकान्तात्मक स्वरूप वस्तुका नहीं है वैसा उससे प्रतिपादित होगा। जिस वचनसे वस्तुका जो धर्म प्रतिपादित होना चाहिये, यदि उससे विपरीत धर्मका जहाँ प्रतिपादन किया जायगा वहाँ वह वचन नयाभासरूप माना जायगा। इसी तरह वचनसे उक्त प्रकारका जैसा प्रतिपादन वक्ता या लेखक द्वारा किया जायगा वैसा ही उस वचनसे श्रोता या पाठकको वस्तुके विषयमें बोध होगा। इस प्रकार वह बोध भी यथायोग्य प्रमाणरूप, नयरूप, अप्रमाणरूप या नयाभासरूप ही माना जायगा।

इस लेखमें हमने उत्पत्ति और विकासके आधारपर जैनदर्शनके नयवादको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। जैनागममें नयोंका विस्तार करते हुए द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा निश्चयनय और व्यवहारनय इस प्रकार दो तरहसे नय-भेदोंका विवेचन पाया जाता है। इनमेंसे नयोंके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद वस्तुतत्त्वकी स्वरूपव्यवस्थाके आधारपर तथा निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद आध्यात्मिक दृष्टिकोणके आधारपर जैनागम द्वारा मान्य किये गये हैं। इनके अलावा जैनागममें और भी अर्थनय तथा शब्दनयके रूपमें नयोंका विवेचन पाया जाता है तथा अर्थनयके नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र व शब्दनयके शब्द, समभिरुद्ध तथा एवम्भूत भेद भी जैनागममें देखनेको मिलते हैं। एवं सभी प्रकारके नयोंके उपभेद भी वहाँपर देखनेको मिलते हैं। इन सबका विस्तारसे विवेचन करनेकी वर्तमानमें अतीव आवश्यकता हो गयी है। कारण कि इस समय जैनसमाजमें जो तात्त्विक विवाद खड़े हो रहे हैं उनका कारण नयोंकी स्थितिको ठीक तरह नहीं समझ पाना ही है। लेकिन चूंकि लेख काफी विस्तृत हो गया है अतः स्वतन्त्र लेख द्वारा ही इन सबका विवेचन करना उचित होगा।

